

निरंजन सहाय

शिक्षा और वर्चस्व के द्वंद्व का वितान

लेखक परिचय

समकालीन शैक्षिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक मुद्दों पर निरंतर लेखन में रत निरंजन सहाय आजकल हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी में एसोशिएट प्रोफेसर हैं।

संपर्क

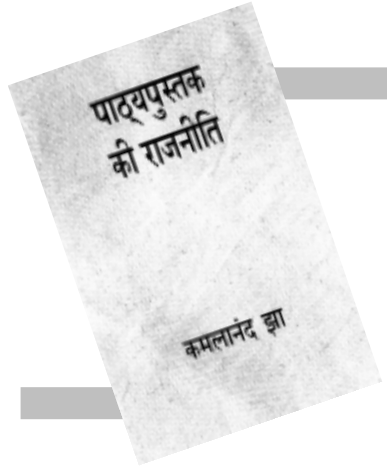
एसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी-221002 उत्तर प्रदेश

अनेक परस्पर विरोधी मान्यताओं के आलोक में अस्मिता निर्माण की राह तय होती है। भारत में ज्ञानात्मक विमर्श की एक लंबी विरासत के बीच औपनिवेशिक दौर की विभिन्न संश्लिष्ट मान्यताओं-अवधारणाओं के साथ पाठ्यपुस्तकों की रचना शुरू हुई। भारत जैसे बहुलतावादी सांस्कृतिक विरासत वाले देश में मौजूदा दौर की बहुविध छवियों के पीछे उपनिवेशवादी दौर की परिस्थितियां जिम्मेदार रही हैं। जरूरत इस बात की है कि उस दौर की संश्लिष्ट वास्तविकताओं से रू-ब-रू हुआ जाए। समाज की विकास प्रक्रिया में निहित सोच, संघर्ष और सपनों के निर्माण में एक बड़ी भूमिका पाठ्यचर्याओं और उनके आधार पर बनने वाली पुस्तकों की होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का प्रायः अभाव-सा रहा है, जिनमें विरासत के आलोक में पाठ्यचर्याओं और पाठ्यपुस्तकों के समग्र मूल्यांकन, निहितार्थों और फलश्रुतियों का विवेचन-विश्लेषण किया गया हो। ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन से प्रकाशित और युवा शिक्षा विशेषज्ञ कमलानंद झा की पुस्तक 'पाठ्यपुस्तक की राजनीति' इस दृष्टि से उल्लेखनीय प्रयास है। पुस्तक रचना का यह तेवर बिलकुल नया है। यहां आवरण पृष्ठ के कुछ अंशों को उद्धृत करना मुनासिब होगा, 'इस पुस्तक में हिन्दी पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु में निहित मूल्यतंत्र को समझने के लिए व्यापक ऐतिहासिक सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक संदर्भ की खोजबीन की गई है। इस संदर्भ के निर्माण में लेखक ने ब्रिटिश औपनिवेशिक काल के दौरान नीतियों और 1857 के स्वाधीनता संग्राम के बाद हिन्दी नवजागरण के अंतर्द्वंद्वों को विशेष रूप से रेखांकित किया है। पाठ्यपुस्तकों में निहित मूल्यतंत्र के विश्लेषण हेतु

इस प्रकार के व्यापक संदर्भ की खोजबीन करना अपने-आपमें नया योगदान है।'

सवाल यह है कि इस सिलसिले में किन बिन्दुओं के आधार पर पुस्तक की रचनात्मक अन्विति फलित हुई है। आवरण पृष्ठ की टिप्पणी ध्यान देने लायक है, 'इस विश्लेषण से ब्रिटिश सत्ता के प्रति राजभक्ति का भाव, सांप्रदायिकता, लैंगिक विषमता, जाति प्रथा में आस्था, ब्राह्मणवाद के वर्चस्व को स्वीकृति, गैर-वैज्ञानिकता, भाषाई-धार्मिक-आंचलिक संकीर्णता आदि मुद्दों को जांचने-परखने का ठोस संदर्भ मिल जाता है।' शिक्षा संसार में इन मुद्दों पर भारी घमासान जारी है। जहां एक पक्ष इन संदर्भों को विजातीय तत्व कहकर पल्ला झाड़ लेता है, वहीं दूसरा पक्ष इसे पतनशील संस्कृति की स्वभाविक फलश्रुति कहकर प्रतिरोध के देशज नजरिए को सिरे से खारिज कर देता है। ऐसी सूरत में पुस्तक की यात्रा का वस्तुपरक विश्लेषण हमें अनेक अर्थों में संपन्न बनाता है।

आभार, भूमिका, अनुक्रमणिका को छोड़कर पूरी पुस्तक पांच खंडों में अपनी यात्रा पूरी करती है। पहले अध्याय का शीर्षक है, 'शिक्षा का सांस्कृतिक दायित्व'। अध्याय तीन उप-खंडों में विभक्त है। क्या महज पाठ्यपुस्तकों से दृष्टि संपन्नता संभव है ? या फिर शिक्षक की मौजूदगी के ज्यादा गहरे निहितार्थ हैं ? अध्याय के आरंभ में इस मुद्दे पर संजीदगी से विचार हुआ है। लेखक की शोध दृष्टि पाठ्यपुस्तकों के संदर्भ में परस्पर विरोधी मान्यताओं का मूल्यांकन करती है। गांधी और रवीन्द्र दोनों पाठ्यपुस्तकों की अहमियत पर अधिक बल देने की प्रक्रिया से असहमत हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर तो यहां तक कहते हैं कि 'बालकों के मन में इस प्रकार का अंध-संस्कार जमने ही न देना चाहिए कि पुस्तकें पढ़ने को ही सीखना कहते हैं। यह बात उन्हें पग-पग पर जतलाते रहना चाहिए कि पुस्तकों में जो कुछ ज्ञान संचित है वह प्रकृति के अक्षय भंडार से ही हरण किया गया है।' रवीन्द्रनाथ और गांधी जैसे हमारे मनीषियों की यह वैज्ञानिक दृष्टि ही थी कि वे इस अंधश्रद्धा के प्रति खास तौर पर सचेत थे कि किसी भी कृति को अपौरुषेय या तथाकथित स्वर्ग से सीधे अवतरित न करार दिया जाए। लेखक ने विस्तार से पाठ्यपुस्तकों के बारे में एक हद तक अभिव्यक्त किए गए नकारात्मक दृष्टिकोणों का विश्लेषण किया है। लेखक ने पाठ्यपुस्तकों की मौजूदगी को एक-दूसरे नजरिए से भी परखा है। वह यह कि जिस देश में बेहतर तरीके से प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी हो और एक मुंह चिढ़ाती सचाई यह भी हो कि इस पेशे में वही



लेखक : कमलानंद झा
प्रकाशक : ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन,
नई दिल्ली
मूल्य : 450 रुपए, पृष्ठ-240

लोग आते हों जो मजबूरीवश इस पेशे में आए हों, वहां अच्छी पाठ्यपुस्तकों की महत्ता काफी हद तक बढ़ जाती है। उसी तरह ज्यादातर भारतीय स्कूलों में संसाधनों के अभाव में शिक्षा की मुकम्मल अवधारणा संभव नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में गुणवत्तायुक्त पाठ्यपुस्तकों का विशेष महत्त्व है। पर इन संदर्भों पर विचार करते हुए लेखक यह कहना नहीं भूलते कि, 'इन सबके बावजूद ध्यान देने की आवश्यकता यह है कि पाठ्यपुस्तक शिक्षार्थी और शिक्षक पर हावी न हो जाए।'

पाठ्यपुस्तकों के सरोकार, सामग्री और प्रस्तुतिकरण के सिलसिले में भारतीय शिक्षाविदों में विचार की एक लंबी परंपरा

रही है। गांधी जैसे विचारक अपनी बुनियादी तालीम की अवधारणा में इस बात पर बल देते थे कि पाठ्यक्रम सीधे तौर पर प्रकृति और स्थानीय परिस्थिति से जुड़ा हो। उसी तरह यशपाल समिति ने इस बात पर चिंता जाहिर की थी कि सामाजिक विज्ञान का उपदेशों में पहुंचाना या केवल समृद्ध वर्ग के बारे में दी जाने वाली शिक्षा अनुचित है। लेखक ने विभिन्न दृष्टांतों के माध्यम से इस तथ्य का प्रभावी विश्लेषण किया है। किशोरीलाल द्वारा 1950 में लिखी पुस्तक 'जड़ मूल से क्रान्ति' की स्थापनाएं लेखक को प्रभावित करती हैं कि 'एक देश की दूसरे देश के साथ लड़ाई होने की घटनाएं इतिहास में दर्ज करके रखी जाती हैं, लेकिन एक-दूसरे के जीवन-व्यवहार की अनेक घटनाएं उत्पात मचाने वाली न होने के कारण दर्ज नहीं की जातीं। इसलिए बालकों के मन पर यह असर पड़ता है कि विदेशियों को तो शत्रु मानकर उनसे हमेशा होशियार ही रहना चाहिए। इससे बालकों के मन में गलत देशाभिमान उत्पन्न होता है, जिसके कारण ऐसी भावना को पोषण मिलता है कि अपने देश की बात उचित हो या अनुचित, लेकिन हमें तो अपने देश का ही पक्ष लेना चाहिए। प्रसंगवश 'भारत और पाकिस्तान' के संदर्भ में इसे बखूबी समझा जा सकता है। कृष्ण कुमार की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'मेरा देश तुम्हारा देश' इस अध्ययन के लिहाज से बेहतरीन किताब है। एन.सी.ई.आर.टी. या मध्य प्रदेश की विभिन्न पुस्तकों के संदर्भ में लेखक ने 2005 के एन. सी. एफ. से पहले आई पुस्तकों का हवाला देते हुए बताया है कि कैसे सामाजिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा के नाम पर अनेक बार अवैज्ञानिकता ही नहीं बल्कि गैर-ब्राह्मणवादी समुदायों और स्त्री समाज के बारे में घृणा परोसी गई।

अध्याय के दूसरे उप-शीर्षक 'औपनिवेशिक समाज में शिक्षा' में लेखक समकालीन शिक्षा के ढांचे को औपनिवेशिक करार देते हैं। बेहतर मनुष्य बनाने का उद्देश्य यानी 'सा विद्या या विमुक्तये' (शिक्षा का उद्देश्य मानव मुक्ति) महज नौकरी तक सिमटकर रह गई। जहां यूरोप के बुरुजा ने सामंती व्यवस्थाओं के बरअक्स नई व्यवस्थाएं दीं, वहीं हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं हुआ। यह बेहद तकलीफदेह है कि भारत में सोदेश्य एक विशाल वर्ग को शिक्षा से वंचित रखा गया, बकौल लेखक, 'यह तथ्य मानते हुए कि पौराणिक गाथाएं ऐतिहासिक प्रमाण नहीं हैं फिर भी सत्यकाम, कर्ण, एकलव्य और बौद्ध-काल तक अनेक लोगों की ऐसी हृदयविदारक गाथाएं हैं, जिन्हें भुला पाना कठिन है।' यह भी सही है कि अंग्रेजों के आगमन के पूर्व तक हमारा शिक्षा संसार धूमिल हो चुका था। दिनकर के साक्ष्य का लेखक ने हवाला दिया है कि, 'अंग्रेजों के भारत आगमन से पूर्व भारत की शिक्षा पद्धति जीर्ण-शीर्ण, गतानुगतिक और निष्प्राण थी।' लेखक ने अंग्रेजों के विभिन्न प्रयासों का तथ्यात्मक उल्लेख करते हुए बताया है कि 1781 में वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ते में पहला मदरसा खोला, इसी तरह 1801 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई। लॉर्ड विलियम बैंटिक ने 1835 में ऐलान किया कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहेगा। तथ्यों का उल्लेख करते हुए लेखक ने सत्य के साक्षात्कार में कोताही नहीं बरती। बकौल लेखक ग्रांट, मैकाले और वार्डन का उद्देश्य भारत को बदलकर एक नकली इंग्लिस्तान बनाना था। लेखक ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक बेहद मूल्यवान उद्धरण दिया है, जिसे उद्धृत करना मौजूं होगा, 'हमारे देश का जो पुरुष यूरोपीय दर्शन, विज्ञान और न्यायशास्त्र का पंडित है, वही पुराने कुसंस्कारों और झूठे अंधविश्वासों का यत्नपूर्वक पोषण कर रहा है, जो स्वाधीनता के उज्ज्वल आदर्श का अपने व्याख्यानों द्वारा प्रचार करता है। वही पराधीनता के सैकड़ों-हजारों लूटातंतुओं से आपको और दूसरों को आच्छन्न करके दुर्बल कर रहा है।'

औपनिवेशिक दौर के अंग्रेजी सत्ता की कोशिशों से अलग एक दूसरी धारा भी थी जो शिक्षा को भारतीय परिस्थितियों के लिए न सिर्फ तर्कसंगत बनाने के लिए प्रयत्नशील थी, बल्कि राष्ट्रवाद की भावना से भी लबरेज थी। गुजरात विद्यापीठ और जामिया मिलिया जैसी संस्थाएं इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। लेखक आधुनिक शैक्षिक परिदृश्य की यात्रा तक पहुंचते हैं और यह कहना नहीं भूलते 'कम से कम आधुनिक शिक्षा प्रणाली में इतना परिवर्तन जरूर किया जाना चाहिए कि कठिन परिश्रम और काम के साथ सीखने की संस्कृति का विकास किया जा सके।' तीसरे खंड 'भारत में आधुनिक शिक्षा का सांस्कृतिक' संदर्भ में लेखक ने खासकर आजादी के बाद के दौर में वंचित समूहों, स्त्रियों और अल्पसंख्यकों के लिए किए गए शैक्षिक प्रयासों का विवरण और विश्लेषण प्रस्तुत

किया है। लेखक ने मुनीस रजा के हवाले से इस बात पर बल दिया है कि पारंपरिक शिक्षा के जीवंत स्रोतों को पुनर्जीवित करने की जरूरत है, जैसे शास्त्रार्थ या बहस की परंपरा।

दूसरा अध्याय 'हिन्दी क्षेत्र का सांस्कृतिक आत्मसंघर्ष' तीन खंडों में विभक्त है- '1857 और हिन्दी क्षेत्र', '1857 के लोककाव्य की गरिमा' और 'हिन्दी साहित्य के परंपरा की खोज'। नवजागरण के प्रति अंधश्रद्धा या वितृष्णा की बजाय लेखक का वस्तुपरक दृष्टिकोण इस नतीजे पर पहुंचता है कि 'हिन्दी नवजागरण एक ऐसे मोड़ पर खड़ा है जहां से एक रास्ता प्राचीनता की ओर जाता है तो दूसरा रास्ता आधुनिकता की ओर। इसके अगुआ मध्यकालीन संस्कार लेकर आते हैं लेकिन आधुनिक चेतना से लैस हो जाते हैं। 'लेखक ने लोकगीतों के प्रतिरोधी तैवरों का सशक्त मूल्यांकन किया है। 'हिन्दी साहित्य परंपरा की खोज' में लेखक ने इस बात की पड़ताल की है कि हिन्दी साहित्य निर्माता मुख्यतः किस परंपरा से जुड़ते हैं और भावी पीढ़ी के लिए किस तरह के भविष्य की संकल्पना करते हैं। उर्दू शैली काव्य परंपरा का बहिष्कार, स्त्री-दलित समाज के प्रति असंवेदनशीलता, पुरुष वर्चस्व की पक्षधरता आदि की वे परंपराएं जिन्होंने जाने-अनजाने हिन्दी की मुख्यधारा में स्थान सुनिश्चित किया, उसकी गंभीर पड़ताल की गई है। शुक्ल स्कूल की अनेक स्थापनाओं से सहमत होने के बावजूद शुक्ल जी की उन अनेक विसंगतियों की ओर भी लेखक का ध्यान जाता है जो जाने-अनजाने हिन्दी की विरासत भी बनी। जैसे भाषा का सवाल- इस आलोक में दो धाराएं साफ हैं- एक शुक्ल स्कूल की संस्कृतनिष्ठ भाषा तो दूसरी महात्मा गांधी, प्रेमचंद वाली हिन्दुस्तानी भाषा। शुक्ल जी के लिए लोकधर्म वर्णाश्रम धर्म है और सिद्ध-नाथ सांप्रदायिक कोटि के रचनाकार हैं, कबीर कर्कश तो सूर की गोपियां मर्यादाहीन। लेखक का यह कहना महत्वपूर्ण है 'आज भी विद्यालय के लिए हिन्दी पाठ्यपुस्तक तैयार करने वाले अधिकांश लोग 'शुक्ल स्कूल' से ही दीक्षित हैं। 'सांस्कृतिक अस्मिता की छवियां' खंड में लेखक प्रभुत्ववादी संस्कृति से असहमति दर्ज करते हुए तर्कसंगत कथन प्रकट करते हैं, 'जब दक्षिण के पूरे संगम साहित्य (जो वैदिक साहित्य टक्कर का है) और संस्कृति को गटक कर सिर्फ वेद, पुराण, उपनिषद् और उत्तर भारत की संस्कृति का गान किया जाए, तो हम कह सकते हैं कि यह एक अस्मिता की धारा को कुंद कर दूसरी अस्मिता पर शान चढ़ाने जैसा है।' आदिवासी, दलित और स्त्री अस्मिता की लगातार उपेक्षा को भी हम इस श्रेणी में रख सकते हैं।

शिक्षा और सत्ता के संबंधों के विश्लेषण की दृष्टि से तीसरा अध्याय 'शिक्षा और सत्ता : नीति-अनीति की रस्साकशी' उल्लेखनीय है। लेखक ने छात्र-राजनीति को सत्ता द्वारा कुंद करने को प्रतिरोध के स्वरो को कुचलने की सोची-समझी रणनीति माना है।

लेखक ने 'शिक्षा का मौलिक अधिनियम 2009' उपशीर्षक के अन्तर्गत यह बताया है कि बिना बुनियादी संकल्पनाओं को बदले और संसाधनों को जुटाए यह अधिनियम सरकारी प्रपंच मात्र है। 'शिक्षा : नीति, आयोग और सिफारिशों की खींचातानी' में लेखक ने 1968 से राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा: 2005 तक की नीतियों का विश्लेषण किया है। लेखक ने इस क्रम में कृष्ण कुमार की पुस्तक 'शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व' और 'राज समाज और शिक्षा' का बेहद सारगर्भित मूल्यांकन किया है। फिल्म 'श्री इंडियट' के विश्लेषण क्रम में लेखक फिल्म की तमाम सकारात्मक बातों को बताने के बावजूद यह बताना नहीं भूलते कि फिल्म पुरुष वर्चस्व और प्रचलित शैक्षिक पदानुक्रम व्यवस्था से खुद को बचा नहीं पाई है जहां एक इंजीनियर डॉ. बांगरू का अतिशय महिमामंडन फोटोग्राफर फरहान के कद को छोटा कर देता है। लेखक इसे खास तौर पर नोट करते हैं कि हिन्दी फिल्मों की दुनिया में बेहद विषम परिस्थितियों में इंजीनियर द्वारा प्रसव कार्य कुशलतापूर्वक संपन्न करा देना ज्ञान के रूपांतरण का श्रेष्ठ और कदाचित पहला उदाहरण है।

अध्याय चार यानी 'पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम : समस्याएं और निहितार्थ' में लेखक ने प्रमुखतः ज्ञानार्जन के माध्यम के रूप में मातृभाषा की जरूरत को रेखांकित करने वाली स्वाधीनता पूर्व और बाद की शिक्षा समितियों, शिक्षाशास्त्रियों के मत, पाठ्यपुस्तक लेखन की भद्रलोकीय अवधारणा, प्रारंभिक पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में शिवप्रसाद सितारेहिंद का योगदान, सत्ता द्वारा अपने राजनैतिक इस्तेमाल के लिए कर्नाटक में सोनिया गांधी और बिहार में लालू यादव पर पाठों का निर्माण कराना, अंधविश्वास बनाम वैज्ञानिक चेतना की पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों में मौजूदगी आदि का विश्लेषण किया है। अंतिम अध्याय 'एनसीईआरटी : परिवर्तन और निरंतरता', एन.सी.एफ. 2005 के आलोक में हिन्दी पाठ्यपुस्तकों के सकारात्मक पक्ष और समकालीन दौर से बावस्ता होने की विशेषताओं का सटीक मूल्यांकन किया गया है।

अंत में, यह भी कि कुछ चूकें पुस्तक में रह गई हैं जिनका उल्लेख इस उम्मीद के साथ कि विवेकवान लेखक अगले संस्करण में उनका परिहार करेंगे। मसलन भाषा की अनेक स्थानों पर त्रुटिपूर्ण उपस्थिति है, जैसे पृष्ठ 17 में 'इन सबके बावजूद' की जगह 'इस सबके बावजूद', पृष्ठ 39 में रवीन्द्र के उद्धरण में 'विधा' की जगह 'विद्या', पृष्ठ 205 में उपशीर्षक की जगह स्वतंत्र अध्याय का संकेत, अनेक शब्द त्रुटियां जैसे 'वगैरह' की जगह 'बगैरह' (पृष्ठ 116), 'आशंका' की जगह 'संभावना' (पृष्ठ 100) आदि। कुल मिलाकर शिक्षा परिदृश्य की स्थिति, रवायत की मौजूदा फलश्रुतियां, पाठ्यपुस्तकों के सकारात्मक हस्तक्षेप के गंभीर अध्येताओं के लिए पुस्तक जरूरी संदर्भ है। ♦

'शिक्षा विमर्श' द्वि-मासिक पत्रिका स्वामित्व एवं अन्य सूचनाओं से संबंधित विवरण

घोषणा

फार्म-4 (नियम-8)

1. प्रकाशन का स्थान : जयपुर
2. प्रकाशन अवधि : द्वि-मासिक
3. मुद्रक का नाम : सुश्री रीना दास
नागरिकता : भारतीय
पता : दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा, जगतपुरा, जयपुर-302025 राजस्थान
4. प्रकाशक का नाम : सुश्री रीना दास
नागरिकता : भारतीय
पता : दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा, जगतपुरा, जयपुर-302025 राजस्थान
5. संपादक का नाम : विश्वंभर
नागरिकता : भारतीय
पता : 150/10, शिप्रापथ, मानसरोवर, जयपुर-302020 राजस्थान
6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों। : दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति टोडी रमजानीपुरा, जगतपुरा, जयपुर-302025 राजस्थान
7. मुद्रणालय का नाम : भालोटिया प्रिंटर्स
पता : 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 राजस्थान

मैं रीना दास एतद् द्वारा घोषणा करती हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

2 मार्च, 2011

रीना दास
(प्रकाशक)